Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

संस्कृत महाकाव्य सर्जना के इतिहास में लौकिक संस्कृत महाकाव्यों का प्रारम्भ आर्षकाव्यों के पश्चात् महर्षि पाणिनि के समय से प्रारम्भ कैसे होता है

कैलाश चन्द्र बुनकर
प्राचार्य, राजकीय लक्ष्मीनाथ शास्त्री संस्कृत, महाविद्यालय,चीथवाड़ी, जयपुर।

शोधसारांश– रचनात्मक दृष्टि से यह महाकाव्य विदग्ध महाकाव्य के लक्षणों का अनुसरण करता है इसमें वैदर्भी एवं गौडी रीतियों के प्रयोगों में दक्षता विद्यमान है। लालित्य के साथ–साथ पदों में गेयता प्रस्फुटित हुई है। अंगीरस वीर है तथा शास्त्रीय दृष्टि से सभी काव्याङ्गों का समुचित विन्यास इसमें देखने को मिलता है।

मुख्य शब्द– संस्कृत, महाकाव्य, सर्जना, इतिहास, लौकिक, आर्षकाव्य, महर्षि पाणिनि, समय

संस्कृत महाकाव्य सर्जना के इतिहास में लौकिक संस्कृत महाकाव्यों का प्रारम्भ आर्षकाव्यों के पश्चात् महर्षि पाणिनि के समय से प्रारम्भ होता है।[1] यद्यपि पाणिनि कालीन महाकाव्य प्राप्त नहीं होते, किन्तु उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर जैसा कि पूर्व अध्याय में भी संकेत किया जा चुका है । पाणिनि के समय में महाकाव्य- सृजन की परम्परा विद्यमान थी, किन्तु इस परम्परा का वास्तविक स्वरूप हमें कालिदास के महाकाव्यों से होता है, जो सहजोन्मेष प्रधान काव्यधारा का प्रवर्तन करते हैं। कालिदास उस युग के महाकवि हैं, जब सृजनकार बिना किसी कृत्रिमता एवं आयास के काव्य सृजन में प्रवृत्त होता था। सहजता या स्वभाविकता की प्रवृत्ति के कारण सरल एवं सरस शैली इन महाकाव्यों का प्रमुख गुण कहा जा सकता है। इन महाकाव्यों में वैदर्भी रीति को सर्वाधिक प्रश्रय दिया जाता है।

यद्यपि कालिदास एवं अश्वघोष के पौर्वापर्य को लेकर प्राच्य पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है, अत: अधिकांश विद्वान् महाकाव्यपरम्परा के आदिम युग में उद्भूत इस सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा का प्रवर्तक महाकवि कालिदास को स्वीकार करते हैं, जबकि कतिपय विद्वान् इस काव्यधारा का प्रवर्तक अश्वघोष को मानते हैं ।[2]

महाकवि कालिदास की प्रसिद्धि युगान्तरकारी व्यक्तित्व स्वभाविक शैली में सर्जना का प्रतिनिधित्व इत्यादि ऐसे उल्लेखनीय तथ्य हैं, जिनके आधार पर हम कालिदास को इस परम्परा का प्रवर्तक स्वीकार करें, तो इसमें अत्युक्ति नहीं माननी चाहिए।

महाकवि कालिदास के महाकाव्य बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न कविता – कामिनी – विलास महाकवि कालिदास के दो महाकाव्य प्राप्त होते हैं 'कुमारसम्भवम्' एवं 'रघुवंशम्'। इनमें 'कुमारसम्भवम्' के कथानक का आधार आर्षकाव्य 'रामायण' एवं 'महाभारत' में आई हुई कथाएँ हैं। 'रामायण' के 'बालकाण्ड' में 23वें, 36वें एवं 37वें सर्ग में तथा इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में 130 से 137वें अध्याय तक के भाग में 'कुमारसम्भवम्' की मूलकथा के आधार बिन्दु प्राप्त होते हैं ।

दूसरे महाकाव्य 'रघुवंशम्' का कथानक इतिहास को आधार मानकर चलता है, जिसके संकेत पुराणों में इक्ष्वाकु वंश की राजवंशावलियों में प्राप्त होते हैं। 'रघुवंशम्' में कालिदास ने समग्र इतिवृत्तात्मक कथा का अवलम्बन न लेकर अनेक चरित्रों का उपस्थापन किया है। 'रघुवंशम्' में वर्णित अनेक राजाओं में से दो का उल्लेख वाल्मीकीय 'रामायण' में 19 का वायुपुराण में तथा 18 का विष्णु पुराण में उपलब्ध होता है। भास के 'प्रतिमा' नाटक में भी दिलीप से दशरथ तक के राजाओं का नामोल्लेख 'रघुवंश' के अनुकूल प्राप्त होता है । [2]

महाकवि कालिदास के दोनों महाकाव्य संस्कृत के अन्य महाकाव्यों की अपेक्षा महाकाव्य के बाह्य लक्षणों की पूर्ति करते हैं। स्वभाविक सृजन शैली के कारण ये महाकाव्य उन उच्च कोटि के महाकाव्यों की श्रेणी में आते हैं, जिनमें महान् उद्देश्य, महत्वपूर्ण विषय एवं विशिष्ट प्रतिपाद्य के साथ आवश्यक शाश्वत लक्षणों की पूर्ति कवि प्रतिभा द्वारा की गई है। स्वाभाविकता को सुरक्षित एवं संरक्षित

बनाये रखने के उद्देश्य से कालिदास अपने पाण्डित्य के उपस्थापन का प्रयास नहीं करते। यही कारण है कि कालिदास का प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व उसकी इन दोनों कृतियों में सहज रूप से मुखरित हुआ है, जो तत्कालीन युग की मान्यताओं के अनुरूप तथा भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत दिखाई देता है।

डॉ. प्रभाकर वाटवे ने कालिदास के इन महाकाव्यों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि- "कालिदास ने इन महाकाव्यों में श्रुति, स्मृति, पुराणेतिहास आदि में कथित भारतीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुये तत्कालीन आर्यसंस्कृति का महान् आदर्श स्थापित किया है। 'दिलीप' से लेकर 'अतिथि' तक सभी राजाओं के चरित्र वर्णन में आर्यसंस्कृति की अभिव्यक्ति की है । आलोचनात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि ये दोनों काव्य ध्येयवादी प्रकृति एवं मानवजीवन को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने वाले तथा स्वभाव-चित्रण के यथार्थ से संवलित रहे हैं। "

महाकवि अश्वघोष और उनके महाकाव्य महाकवि 'अश्वघोष' बौद्ध कवि रहे हैं, अत: उनका व्यक्तित्व एक दार्शनिक व्यक्तित्व रहा है। इसके प्रभावस्वरूप उनके द्वारा सृजित संस्कृत महाकाव्यों में दार्शनिकता का उल्लेख आवश्यक रूप से हुआ है । अश्वघोष के दो महाकाव्य हमें प्राप्त होते हैं- 'बुद्धचरितम्' तथा 'सौन्दरनन्दम्'। 'कालिदास' के महाकाव्यों की भाँति ही 'अश्वघोष' के महाकाव्य भी सहजोन्मेष प्रधान, काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जहाँ 'कालिदास' अल्प समास एवं मध्यम समास वैदर्भी को अपनाते हैं, वहाँ अश्वघोष शुद्ध वैदर्भी का प्रयोग करते हैं । इस कारण अश्वघोष के महाकाव्यों की स्वाभाविकता कालिदास की अपेक्षा पर्याप्त रूप से बढ़ गई हैं। अश्वघोष के दोनों महाकाव्यों में से 'बुद्धचरितम्' बुद्ध के जीवन पर आधारित महाकाव्य हैं, जिसमें बुद्ध के चारित्रिक उत्कर्ष के साथ-साथ उनके उपदेशों एवं सिद्धान्तों का भी रमणीय वर्णन प्रस्तुत हुआ है । बुद्ध का संघर्षमय जीवन पर्याप्त प्रेरणास्पद है।

बुद्ध के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के कारण ही 'बुद्धचरितम्' को धार्मिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई है, इसके विपरीत दूसरे महाकाव्य 'सौन्दरनन्दम् ' प्रणय के कथानक की प्रधानता है तथा बुद्ध के चरित्र एवं सिद्धान्तों की गौणता के कारण 'सौन्दरनन्दम्' को उतना धार्मिक महत्व नहीं मिल पाया है। स्वयं अश्वघोष ने अपने इस महाकाव्य की रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इस कृति में मोक्षधर्म के अतिरिक्त मेरे द्वारा जो कुछ भी कहा गया है, वह केवल काव्य धर्म के अनुसार रचना को सरस बनाने के लिए समझना चाहिए। ठीक उसी प्रकार जैसे कि कड़वी औषधी को पीने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है।'

अश्वघोष की महाकाव्य सर्जना में 'बुद्धचरितम्' का कथानक बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' से लिया गया है। इसी प्रकार 'सौन्दरनन्दम्' की कथा को अश्वघोष ने 'उदानजातक' एवं 'धम्मपद' की अट्ठकथा में से लिया है। इस प्रकार ख्यात वृत्त को ग्रहण करते हुए महाकाव्य सृजन में प्रवृत्ति, सर्जन की परम्परा के अनुरूप दिखाई देती है। अश्वघोष दार्शनिक अवश्य है किन्तु फिर भी उनकी महाकाव्य रचनाओं में दार्शनिक ज्ञान का पाण्डित्य नहीं दिखाई देता है । दर्शन जैसे कठिन विषय को भी काव्य में स्थान देना तथा अपने महाकाव्य को दुरुहता से पृथक् रखना अश्वघोष की सृजन सफलता का प्रतीक है। डॉ. भोलाशंकर व्यास ने कालिदास एवं अश्वघोष के महाकाव्यों की तुलनात्मक समालोचना करते हुए लिखा हैं- " यद्यपि कालिदास की भाँति अश्वघोष के महाकाव्यों में वस्तु संविधान की स्वभाविकता, प्रवाहशीलता, सरसता एवं प्रभावोत्पादकता को लेकर पर्याप्त न्यूनता विद्यमान है, फिर भी बौद्ध धर्म एवं दर्शन से प्रभावित अश्वघोष अपने काव्यों में शान्त रस की अपेक्षा श्रृंगार को अधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत करते है । उन्होंने शान्त रस के स्थापना के लिए श्रृंगार की सरसता को कुचलने का काम नहीं किया है यही उनकी सबसे बड़ी ईमानदारी है।"

सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा में भले ही कालिदास अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें हो, किन्तु इससे अश्वघोष के अवदान की सार्थकता को किसी प्रकार की आँच नहीं आती, जैसा कि डॉ. बलदेव उपाध्याय ने लिखा हैं—

"अश्वघोष की कविता में स्वाभाविकता का साम्राज्य है । यहाँ कवि एक विशेष उद्देश्य के कारण तत्वज्ञान से हटकर कोमल काव्यकला का आश्रय लेता है और इस कार्य में वह सर्वथा सफल है। भावों के नैसर्गिक प्रवाह का कारण कवि के आध्यात्मिक जीवन से नितान्त सम्बद्ध रहा है। अत: भावों की यथार्थता अश्वघोष के दोनों महाकाव्यों में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।'

भतृमेण्ठ और उनका 'हयग्रीववधम्' कालिदास एवं अश्वघोष की सजोन्मेषप्रधान काव्यधारा को आगे बढ़ाने में महाकवि भतृमेण्ठ का सर्वाधिक योगदान रहा है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार भतृमेण्ठ उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की राजसभा के आश्रित कवि थे । किन्तु बाद में काश्मीर नरेश मातृगुप्त द्वारा उन्हें आमन्त्रित किया गया तथा मातृगुप्त के आश्रय में रहकर ही उन्होंने

'हयग्रीववधम्' महाकाव्य की रचना । राजतरंगिणी के कर्ता कल्हण ने इस संदर्भ में मातृचेट के मुख से निम्न वाक्य कहलवाया है जो इसकी रससिद्धता को सहज रूप से स्पष्ट करता है-

"अथ ग्रथयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात् ।
लावण्यनिर्वाणभिया राजाऽध: स्वर्णभाजनम् । । ' "3

कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार मातृचेट चौथी शताब्दी में विद्यमान थे अत: भतृमेण्ठ का समय भी चौथी शताब्दी में ही माना जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र कृत 'सुवृत्ततिलक' मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' भोज कृत 'सरस्वतीकण्ठाभरण' 'शृंगार- प्रकाश' राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' पद्मगुप्त परिमल का 'नवसाहसाङ्कचरित विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण' तथा सूक्तिमुक्तावली एवं सुभाषित हारावली आदि ऐसे ग्रन्थ है जिनमें भतृमेण्ठ का नामोल्लेख हुआ है तथा उनके कुछ पद्य उद्धृत हुये है, जिनके आधार पर यह निर्धारित किया जा सकता है कि भतृमेण्ठ सहजोन्मेषप्रधान काव्य धारा के कवि थे तथा उनका महाकाव्य सम्भवत: राजशेखर तक विद्यमान था। दुर्भाग्य से वर्तमान में यह महाकाव्य अप्राप्य है । इस महाकाव्य के संदर्भ में डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने लिखा है कि "इस महाकाव्य के सम्बन्ध में आचार्य परम्परा में यह समीक्षा की जाती रही है कि इसमें नायक (विष्णु) की अपेक्षा प्रतिनायक (हयग्रीव) का चरित्र अधिक प्रधान हो गया है। आचार्य मम्मट ने रसदोष के प्रकरण में 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृति:' का उदाहरण इसी महाकाव्य को बताया है। इस एक रस दोष के होते हुए भी कई शताब्दियों तक 'हयग्रीववध' कवियों सहृदयों और आचार्यों के बीच सराहा व पढ़ा जाता रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि हयग्रीववध एक उत्कृष्ट महाकाव्य था । '''

महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के टीकाकार राघवभट्ट ने अपनी टीका में 'हयग्रीवध' का एक पद्य उद्धृत किया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों में हयग्रीववध के नाटक होने की भ्रान्ति होती रही है। इस संदर्भ में डॉ. बलदेव उपाध्याय ने दो प्रमाणों के आधार पर इसको महाकाव्य माना है उसमें प्रथम प्रमाण यह है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'सुवृत्ततिलक' में अनुष्टुप से आरम्भ होने वाले महाकाव्यों की गणना में हयग्रीववध का उल्लेख करते हुए इसका प्रारम्भिक श्लोक भी लिखा है। दूसरा प्रमाण यह है कि भोज ने अपने शृंगारप्रकाश में महाकाव्य के दृष्टान्त के रूप में 'हयग्रीववध' का नामोल्लेख किया है ।

इन दोनों प्रमाणों के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि राघवभट्ट ने अपनी टीका में यह नहीं बताया कि यह पद्य कहाँ से लिया गया है तथा 'हयग्रीववध' या उसको महाकाव्य या नाटक संज्ञा से अभिहित नहीं किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि हयग्रीववध वस्तुत: एक महाकाव्य ही था, जो महाकवि कालिदास के पश्चात् अपने वैशिष्ट्य के कारण पर्याप्त प्रसिद्ध रहा ।

महाकवि भारवि और उनका महाकाव्य

संस्कृत साहित्य सर्जना के इतिहास में कालिदास के पश्चात् महाकवि भारवि एक युगान्तरकारी व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित होते है । संस्कृत महाकाव्य के सर्जनात्मक स्वरूप में उल्लेखनीय परिवर्तन भारवि का मूल लक्ष्य रहा है। यही कारण है कि संस्कृत महाकाव्य परम्परा के समालोचकों ने भारवि को अलंकृत काव्यशैली का जन्मदाता कहा है । यह काव्यशैली सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा से नितान्त पृथक् एवं विपरीत है। आयाससाध्यता, कृत्रिमता एवं प्रतिभा की अपेक्षा पाण्डित्य की प्रबलता का उपस्थापन इस काव्यशैली का मूल लक्ष्य रहा है । भारवि से पूर्व इस प्रकार की शैली का प्रयोग किसी अन्य कवि द्वारा नहीं किया गया अत: यह श्रेय भारवि को ही प्राप्त है ।

भारवि की एकमात्र रचना 'किरातार्जुनीयम्' उपलब्ध होती है । इस महाकाव्य का सर्जन भी प्रख्यात इतिवृत को आधार बनाकर किया गया है। इसका कथानक महाभारत के वनपर्व से लिया गया है। भारवि के इस महाकाव्य में किरात एवं अर्जुन के युद्ध की घटना उल्लेखनीय रूप में प्रस्तुत हुई है। मूल कथानक में परिवर्तन एवं परिवर्धन अलंकृत काव्य शैली के अनुरूप किये गये हैं। जिसके कारण भरवि यथेच्छ रूप में अपना पाण्डित्य यहाँ उपस्थापित कर सके हैं। तत्कालीन समाज, राजनीति एवं धर्म का चित्रण 'किरातार्जुनीयम्' के प्रतिपाद्य को पर्याप्त उल्लेखनीय बना देता है। जहाँ समाजोन्मेषप्रधान काव्यधारा के अन्तर्गत सृजित कालिदास के महाकाव्यों में श्रृंगार की प्रधानता रही तथा अश्वघोष के महाकाव्यों में शान्त रस की प्रधानता रही, उसी प्रकार भारवि की 'किरातार्जुनीयम्' में वीर रस की प्रधानता

अपने आप को पृथक् रूप में उपस्थापित करती है । अलंकृत काव्यशैली में सृजित भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' में पाण्डित्यप्रदर्शन के कारण काठिन्य का समावेश अधिकाधिक रूप में हुआ है । भारवि का अर्थगौरव इसको और भी विशिष्ट बना देता है । वक्ता के मूल भावों को लेकर की गई शब्दयोजना में भारवि अपने प्रतिभा एवं पाण्डित्य से उस विशेषता को स्थापित कर देते है जहाँ मूलभाव को समझना पर्याप्त दुष्कर प्रतीत होता है ।

महाकवि भट्टि और उनका रावणवध महाकाव्य

महाकवि भारवि के पश्चात् भट्टि भी एक युगान्तरकारी कवि हुए है, जिन्होंने सहजोन्मेषप्रधान एवं विदग्धोन्मेषप्रधान काव्य धाराओं से पृथक् शास्त्रकाव्यधारा का प्रवर्तन किया तथा इस काव्यधारा में संस्कृत काव्यसर्जना की स्वभाविक एवं अलंकृत दोनों शैलियों का समन्वय प्रमुख रूप से उपस्थापित किया गया। इस समन्वय में भी अलंकृत काव्यशैली की अपेक्षा स्वभाविक शैली का ही महत्व परिलक्षित होता है। शास्त्रकाव्य के रूप में भट्टि की एकमात्र रचना 'रावणवध' प्राप्त होती है। इसमें भट्टि ने अपने जीवन चरित्र के विषय में अन्तिम पद्य में यह उल्लेख किया है कि वे वल्लभीनरेश श्रीधर सेन के आश्रय में रहकर अपने काव्य 'रावणवध' को पूर्ण कर चुके थे । यह पद्य निम्न प्रकार है–

काव्यमिदं विहतं मया वलभ्यां–
श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम् ।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
क्षेमकर: क्षितिपो मत: प्रजानाम् ।।

वल्लभी में प्राप्त शिलालेखों के आधार पर श्रीधरसेन नामक चार राजाओं का पता चलता है। उनमें से श्रीधरसेन द्वितीय के नाम से प्राप्त एक दानपत्र में भट्टि नामक विद्वान् को भूमिदान देने का उल्लेख किया है । यह शिलालेख 610 ईस्वी का है

तथा इसके आधार पर इनको इन्हीं श्रीधरसेन द्वितीय के राज्याश्रित कवि के रूप में माना जाता रहा है।'

डॉ. बलदेव उपाध्याय ने शिलालेखों के लेखक ध्रुवसेन के ताम्रपत्रों में प्राप्त उल्लेखों से भट्ट के उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त ' क्षेमकर' उपाधि का साम्य बतलाते हुए यह स्वीकार किया है कि भट्टि श्रीधरसेन प्रथम के राज्यकाल में भी विद्यमान थे तथा उनके भी आश्रित रहे थे। सम्भवत: वे श्रीधरसेन द्वितीय के शासन काल के प्रारम्भिक समय तक जीवित रहे हों तथा उनके द्वारा उन्हें भूमिदान दिया गया हो । 2

महाकवि भट्टि विरचित 'रावणवध' महाकाव्य रामायण की कथा को ही मूलरूप प्रस्तुत करता है, किन्तु यहाँ भट्टि का उद्देश्य राम का गुणगान अथवा जनसामान्य को रामकथा से परिचित कराना नहीं है। उनका मुख्य उद्देश्य तो व्याकरण ज्ञान की दृष्टि से व्याकरणशास्त्र के जटिल प्रयोगों का ज्ञान कराना है जिससे उनका अभ्यास व्याकरण शास्त्र के ज्ञाताओं के लिए सुरक्षित रह सके। इस संदर्भ में भट्टि का निम्नांकित उल्लेख पर्याप्त चिन्तनीय है-

दीपतुल्य: प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ।। 3

शास्त्रकाव्य के रूप में काव्य की इस विधा को पृथक् से विशिष्ट बनाने के उद्देश्य से भट्टि ने इसका वस्तुविभाजन व्याकरणशास्त्रीय आधार पर ही किया है।

उन्होंने समग्र महाकाव्य को चार काण्डों में वर्गीकृत किया है–

(1) प्रकीर्णकाण्ड,
(2) अधिकार काण्ड,
(3) प्रसन्न काण्ड, तथा
(4) तिङ्न्त काण्ड ।

काण्डों का सर्गो में विभाजन महाकाव्यत्व तथा 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' लक्षण की पूर्ति के निमित्त किया गया है । यद्यपि इस महाकाव्य में भट्टि ने वैदर्भी एवं गौडी दोनों रीतियों का प्रयोग किया है, तथापि प्रसाद के व्यापक प्रयोग के कारण जहाँ वैदर्भी में प्राञ्जलता विद्यमान है वहाँ उनका गौडी प्रयोग भी पर्याप्त मनोरम है।

भाषा–शैली के चमत्कार, शब्दसौष्ठव, शब्दसाधुत्व का ज्ञान, विशिष्ट व्याकरणिक प्रयोगों का अभ्यास आदि उल्लेखनीय लक्ष्यों से 'रावणवध' महाकाव्य को तो प्रसिद्धि मिली ही किन्तु भट्टि को भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई, जिसके कारण प्राय: यह महाकाव्य अधिकांश रूप से 'भट्टिकाव्य' के नाम से ही जाना जाता है।

महाकवि कुमारदास एवं उनका जानकीहरण महाकाव्य

महाकवि परम्परा में कुमारदास कालिदास द्वारा प्रवर्तित सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा का अनुसरण करते हैं । कुमारदास का अधिक परिचय उपलब्ध नहीं होता किन्तु कतिपय किंवदन्तियों के आधार पर यह जाना जाता है कि कुमारदास पाँचवीं शताब्दी में लंका के राजा थे।

यह किंवदन्ती सम्भवत: कुमारदास के व्यक्तित्व को विशिष्ट बनाने के उद्देश्य से प्रचलित कर दी गई, जिसकी प्रमाणिकता का कोई उल्लेखनीय आधार नहीं हैं, क्योंकि 'जानकीहरण' के अन्तिम चार पद्यों में कुमारदास ने अपने पिता का नाम 'मानित' बतलाया है, जो श्रेष्ठ विद्वान् एवं योद्धा थे । लंकानरेश कुमारमणि के सेनापति के रूप में कार्य करते हुए इन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया था । इसके पश्चात् कुमारदास ने अपने मेघ एवं अग्रबोधि नामक मातुलों का उल्लेख किया हैं, जिन्होंने कुमारदास का लालन–पालन किया था। यह भी उल्लेख है कि कुमारदास जन्म से ही रोगग्रस्त थे तथा इस महाकाव्य की रचना उन्होंने अपने मातुलों की प्रेरणा से की थी। इन उल्लेखों से न तो कुमारदास के राज्याश्रित होने का पता चलता है, न ही राजा होने का । 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने कुमारदास को जन्मांध होने की जनश्रुति का उल्लेख किया है। इस आधार पर भी उनका राजा होना प्रतीत नहीं होता । सिंहल द्वीप की पुरा कथाओं में कालिदास एवं कुमारदास की मित्रताओं का उल्लेख भी निराधार जान पड़ता है । इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध विद्वान् सी.आर. स्वामीनाथन ने लिखा है कि 'मद्रास से प्राप्त जानकीहरण की पाण्डुलिपियों में प्राप्त उल्लेखों से यह तो प्रमाणित होता है कि कुमारदास के परिवार का सम्बन्ध लंका के राजपरिवार से अवश्य रहा था, किन्तु वे स्वयं राजा अथवा राज्याश्रित कवि नहीं थे। लंका के इतिहास में पाँचवी शताब्दी में तीन राजा विद्यमान रहे मुगलान, धातुसेन तथा कुमारमणि एवं इन तीनों राजाओं ने किसी प्रकार का कोई साहित्य सृजित नहीं किया, अत: जानकीहरण के रचयिता कुमारदास का व्यक्तित्व पृथक् रूप में जानना चाहिए । 2

कुमारदास कृत जानकीहरण महाकाव्य में रामकथा की ही प्रकारान्तर से प्रस्तुति हुई है । कवि का उद्देश्य राम – कथा को विशिष्ट रूप में प्रतिपादित करना रहा है । महाकवि कुमारदास की काव्यप्रवृत्ति के सन्दर्भ में डॉ. बलदेव उपाध्याय ने यह लिखा है कि " कालिदास की अनेक शताब्दियों के बाद जब भारवि द्वारा अलंकृत एवं कृत्रिम काव्य शैली को प्रतिष्ठापित कर दिया गया तथा इसी प्रकार भट्टि द्वारा शास्त्रकाव्यधारा का प्रवर्तन कर दिया गया, उस समय कुमारदास ने कालिदास के मार्ग को अपनाया इससे स्पष्ट होता है कि कुमारदास कालिदास – प्रवर्तित सहजोन्मेष–प्रधान काव्यधारा को ही साहित्य – सर्जना के क्षेत्र में पुन: प्रतिष्ठापित करना चाहते थे ।

महाकवि माघ एवं उनका 'शिशुपालवधम्' महाकाव्य

संस्कृत महाकाव्य–परम्परा में अलंकृत शैली के महाकाव्यों में 'किरातार्जुनीयम्' के पश्चात् माघ कृत 'शिशुपालवध' का सर्वाधिक महत्व मूल्यांकित किया जाता है । संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में मध्यमणि के रूप में सुशोभित शिशुपालवध केवल भाषा एवं शैली की दृष्टि से ही भारवि के आदर्श की उपस्थापना नहीं करता अपितु प्रतिपाद्य तथा उसमें निहित वर्णनों, घटनाओं के संदर्भ में भी भारवि का पर्याप्त अनुकरण माघ काव्य में किया है। शिशुपालवध महाकाव्य के अन्त में माघ ने अपना परिचय प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार वे वर्तमान राजस्थान के भीनमाल नगर के निवासी थे जो उस समय गुजरात की राजधानी था। इन्होंने अपने पिता दत्तम सर्वाश्रय तथा पितामह सुप्रभदेव का भी उल्लेख किया है, जो वर्मलात नामक राजा के राज्याश्रित थे । 1 625 ईस्वी के वसन्तगढ़ शिलालेख से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है । 2

माघ काव्य की कथावस्तु महाभारत, श्रीमद्भागवत् तथा अन्यान्य पुराणों के आधार पर ग्रहण की गई है। इस कथावस्तु में शिशुपालक की घटना मुख्य है, जिसका मूलाधार महाभारत के सभापर्व में बत्तीसवें से पैंतालीसवें अध्याय तक का अंश है। मूल कथानक में निम्न मुख्य घटनायें वर्णित हुई है–

राजसूय यज्ञ की प्रचंड तैयारी, श्रीकृष्ण की आज्ञा से युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ की दीक्षा लेना तथा राजाओं, ब्राह्मणों एवं सगे–सम्बन्धियों को बुलाने के लिये निमन्त्रण भेजना। यज्ञ में सब देशों के राजाओं, कौरवों तथा यादवों का आगमन और उन सबके भोजन,

विश्राम आदि की व्यवस्था । राजसूय यज्ञ का वर्णन, भीष्म जी की आज्ञा से श्रीकृष्ण की अग्रपूजा, शिशुपाल के आक्षेपपूर्णवचन । भीष्म और शिशुपाल का वाक्कलह और अन्त में शिशुपाल का श्रीकृष्ण के द्वारा वध ।

माघ के शिशुपालवध में भारवि की भाँति प्रतिभा के साथ-साथ पाण्डित्य का अतिरेक विद्यमान है । सम्पूर्ण शास्त्रों का परिनिष्ठत ज्ञान एकमात्र माघ काव्य में ही दृष्टिगोचर होता है । यही कारण है कि माघ का पाण्डित्य एकांगी न होकर सर्वगामी रहा है। भारतीय दर्शन, धर्म राजनीति, नाट्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण शास्त्र एवं संगीत के विषय में उनकी विशेषज्ञता का प्रमाण माघकाव्य में प्राप्त हो जाता है। शिशुपालवध में अंगीरस वीर है तथा श्रृंगार अंग रस के रूप में विद्यमान है। अन्य रसों की अभिव्यक्ति भी शिशुपालवध के वर्णनों में दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार रसाभिव्यंजना के लक्ष्य को पूर्ण करते हुये कवि ने अनेक विधाओं का समायोजन कर इस महाकाव्य को विशिष्ट बनाने की चेष्टा की है।

माघ काव्य पर 'किरातार्जुनीयम्' के अतिरिक्त कुमारसम्भव, रघुवंश, रावणवध एवं जानकीहरण का भी प्रभाव विद्यमान रहा है । कालिदास से भी लोकोत्तर उपमायें, भारवि काव्य की कोटि का अर्थगौरव तथा सहजोन्मेषप्रधान काव्यों के तुल्य पदलालित्य होने के कारण 'माघे सन्ति त्रयो गुणा: ' की उक्ति विद्वत्-समुदाय में सुप्रचलित रही है । माघ काव्य में अभिनव शब्दों के प्रयोग का प्राचुर्य भी विद्यमान रहा है जिसके कारण माघ काव्य के प्रशंसको ने लिखा है–

'नव सर्ग गते माघे नव शब्दो न विद्यते । '

यद्यपि अधिकांश विद्वान् शिशुपालवध के मूल कथासूत्र को महाभारत पर आधारित स्वीकार करते है, किन्तु डॉ. बलदेव उपाध्याय ने कथानक के ग्रहण में महाभारत की अपेक्षा श्रीमद्भागवत् को अधिक प्राथमिकता दी है तथा माघकाव्य के वैशिष्टय का अवलोकन करते हुये इसकी प्रामाणिकता को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। संस्कृत-भारती के महाभागवत कवि माघ ने अपने महाकाव्य की कथा- वस्तु को श्रीमद्भागवत् (10/71-75) के आधार पर ही मुख्यतया प्रस्तुत किया है। काव्य की प्रधान घटना का मुख्य आधार भागवत पुराण ही है।

माघ की काव्यशैली 'अलंकृत शैली का चूडान्त निदर्शन है, जिसका प्रभाव अवान्तर कवियों के ऊपर बहुत ही अधिक पड़ा । माघ परिष्कृत पदन्यास के आचार्य हैं। सीधे-सादे शब्दों में पदार्थ - निरूपण ऊँचे काव्य की कसौटी नहीं है, प्रत्युत वक्रोक्ति से मण्डित तथा शाब्दिक एवं आर्थिक चमत्कार के उत्पादक अलंकारों से सुसज्जित पदविन्यास ही माघ की दृष्टि में सच्चे काव्य का निदर्शन है । फलत: इनके काव्य में समासों की बहुलता, विकट वर्णों की उदारता, गाढबन्धों की मनोहरता पाठकों के हृदयावर्जन में सर्वथा समर्थ होती है । "

संस्कृत आलोचना शास्त्र में भी माघ को उल्लेखनीय स्थान प्राप्त हुआ है। उदाहरण के लिये आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, अभिनवगुप्त, नमिसाधु मम्मट इत्यादि आचार्यों ने माघकाव्य की प्रशंसा करने के साथ ही उनके पद्य उद्धृत किये हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्यकला एवं काव्यसौन्दर्य के संदर्भ में माघकाव्य को आदर्श माना है।

आचार्य राजशेखर ने मुक्तक एवं प्रबन्ध काव्य के अन्तर को समझाने के लिये माघ के महाकाव्य का एक पद्य उद्धृत किया है। इसी प्रकार भोज ने महाकाव्य के वैशिष्टय के संदर्भ में माघ का स्मरण किया है। साहित्यदर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ भी साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में पाञ्चाली रीति के उदाहरण रूप में माघकाव्य के पद्य को उद्धृत करते है।

इन सब तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि माघ- काव्य संस्कृत महाकाव्य परम्परा में पर्याप्त उत्कृष्ट रहा है । सम्भवत: उसकी क्षमता का महाकाव्य परवर्ती काल में नहीं लिखा गया ।

रत्नाकर और उनका हरविजय महाकाव्य

संस्कृत महाकाव्य परम्परा में माघ के पश्चात् काश्मीरी कवि रत्नाकर द्वारा रचित हरविजय महाकाव्य एक उल्लेखनीय रचना है। जिसे संस्कृत के सर्वाधिक विपुल महाकाव्य के रूप में जाना जाता है। इस महाकाव्य में 50 सर्ग है । जिनमें चार हजार से भी अधिक पद्य सृजित किये गये है । इस महाकाव्य के रचयिता रत्नाकार काश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड़ के सभापण्डित थे। जयापीड़ के उत्तराधिकारी अवन्ति वर्मा के शासन काल में रत्नाकार ने पर्याप्त प्रसिद्धी प्राप्त की थी अत: कल्हण की राजतरंगिणी में इस तथ्य का उल्लेख निम्न प्रकार प्राप्त होता है–

मुक्ताकण : शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ।।

रत्नाकार - विरचित हरविजय महाकाव्य की रचना भारवि एवं माघ को आदर्श मानते हुये की गई है। जिस प्रकार माघ ने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहा है उसी प्रकार रत्नाकार ने भी अपने महाकाव्य को 'चन्द्रार्धचूड़चरिताश्रयचारु' कहा है। इससे यह लक्षित होता है कि रत्नाकर भी माघ की भांति अपने काव्य में चारुत्व का सन्निवेश करना चाहते हैं । इस प्रयास में उन्होंने अपनी प्रतिभा का व्यापक प्रयोग भी किया है, किन्तु वे माघ जैसे पाण्डित्य को उपस्थिापित नहीं कर पाये हैं ।

व्याकरण, न्याय, वेदान्त, सांख्य, कामशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा विषयक पाण्डित्य 'हरविजय' में पद-पद पर उपलब्ध हो जाता है, किन्तु पाण्डित्य के प्रस्तुतीकरण में माघ की बराबरी सम्भवतः वे नहीं कर सके हैं। सामाजिक अभिनव शब्दों का प्रयोग, सरस सूक्तियों की योजना, अनुकरणात्मक एवं अनुरणनात्मक ध्वनियों पर आधारित शब्दों के प्रयोग में रत्नाकर की विदग्धता उल्लेखनीय रही है । अलंकार, पदलालित्य एवं चित्रकाव्य का चमत्कार उनके कवित्व की मौलिकता को उपस्थापित करता है ।

रत्नाकार विरचित 'हरविजय' महाकाव्य में मूलतः शिव द्वारा अंधकासुर के वध की घटना को केन्द्रित कर कथानक का सर्जन किया गया है । कवि ने इस कथानक को शिवपुराण के धर्मसंहिता भाग के चतुर्थ अध्याय से ग्रहण किया है। कुछ अंशों में इस कथानक पर स्कन्दपुराण एवं पद्मपुराण में प्राप्त अन्धकासुर की कथा का भी प्रभाव पड़ा है। लिंगपुराण में भी यह कथानक प्राप्त होता है । किन्तु सर्वाधिक साम्य शिवपुराण की कथा से प्रतीत होता है। इसमें अन्धकासुर की उत्पत्ति का कथानक हिरण्याक्ष के पुत्र के रूप में अंधकासुर का जन्म तथा अंधकासुर के जन्म के मूल में हिरण्याक्ष द्वारा तपश्चरण एवं शिव के वरप्रदान को मुख्य कारण बतलाया गया है। अंधकासुर द्वारा प्रजापीडन तथा शिव एवं अन्धकासुर का युद्ध, शिव द्वारा अंधकासुर का वध इत्यादि विषय प्रतिपाद्य में समाहित हुये हैं ।

शिवपुराण में अंधकासुर की उत्पत्ति का मूलकारण शिव को बताया गया है जिसका रत्नाकर ने अक्षरशः अनुकरण किया है। इस संदर्भ में शिवपुराण एवं 'हरविजय' के निम्नांकित पद्य अवलोकनीय हैं-

चक्रे ततो नेत्रनिमीलनन्तु,
सा पार्वती नर्म्मयुतं सलीलम् ।
कराम्बुजाभ्यां निमिमील नेत्रे ।।'
प्रवालहेमाब्जधृतं प्रभाभ्यां,
हरस्य नेत्रेषु निमीलितेषु,
क्षणेन जातः सुमहान्धकारः ।
तत्स्पर्शयोगाच्च महेश्वरस्य,
कराच्च तस्या स्खलितं मदम्भूः ।।

इसी प्रकार अन्धकासुर से शिव के युद्ध एवं अन्धकासुर के वध की घटना के वर्णन में 'हरविजय' के रचयिता ने 'स्कन्दपुराण' का पर्याप्त अनुकरण किया है। कवि ने अन्धकासुर के वध के पश्चात् भी शिव की कृपा से उसके शिव में आत्मलीन होने का तथा सेना के पुनर्जीवित होने का वर्णन किया है। इससे पौराणिक प्रभाव का अतिशय यहाँ पर्याप्त रूप में विद्यमान दिखाई देता है । रत्नाकर के हरविजय पर रघुवंश, किरातार्जुनीयम् तथा शिशुपालवध का प्रभाव व्यापक रूप से देखा जाता है। कुछ अंशों में बुद्धघोष - रचित पद्मचूडामणि का प्रभाव भी दिखाई देता है । कवि ने अधिकाधिक भावानुकरण की प्रवृत्ति को अपनाया है। चित्रकाव्यों के सर्जन में भी भारवि एवं माघ को कवि ने अपना आदर्श बनाया है । रत्नाकर ने अपनी इस रचना को विचित्र मार्ग के काव्य के रूप में स्वीकार किया है तथा इस संदर्भ में निम्नांकित गर्वोक्ति प्रस्तुत की है-

"ललितमधुराः सालंकारा प्रसादमनोहरा,
विकट यमक श्लेषोद्गार प्रबन्ध निरर्गला ।
असदृश्भतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो,
न खलु नृपतेश्चेतो वाचस्पतेरपि शंकते ।। ""

महाकवि शिवस्वामी और उनका कप्फिणाभ्युदय महाकाव्य

रत्नाकार के समसामयिक विद्वानों में महाकवि शिवस्वामी सर्वाधिक उल्लेखनीय रहे हैं। ये काश्मीरी महाकवि परम्परा के विद्वान् थे अत: कल्हण ने
अपनी राजतरंगिणी में रत्नाकार के साथ इनका नामोल्लेख किया है।

ये भी अवन्तिवर्मा के शासन काल में विद्यमान थे, अत: इनका स्थितिकाल भी नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता रहा है । शिवस्वामी के व्यक्तित्व के संदर्भ में जन्म से प्रकाशित 'कप्फिणाभ्युदय' की भूमिका तथा अन्तिम प्रशस्ति के बीसवें तैयालीसवें एवं चौवालीसवें श्लोकों में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त होती है। तदनुसार महाकवि शिवस्वामी काश्मीरी भट्ट वंश में उत्पन्न हुये थे। इनके पिता का नाम भट्टार्क स्वामी था । प्रारम्भ में ये काश्मीर शैव मत के अनुयायी थे किन्तु अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में चन्द्रमित्र नामक बौद्ध आचार्य की प्रेरणा से इन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। इनके द्वारा रचित 'कप्फिणाभ्युदय' महाकाव्य भी बौद्ध साहित्य के एक अवदान ग्रन्थ को आधार बनाकर लिखा गया है तथा इस पर बौद्ध धर्म एवं दर्शन का सर्वाधिक प्रभाव दिखायी देता है।

यह काव्य लगभग 19वीं शताब्दी तक अज्ञात रूप में रहा। सन् 1893 ईस्वी में शेषगिरि शास्त्री ने मद्रास राजकीय पुस्तकालय के ताड़पत्रीय संग्रह में से इसका अन्वेषण किया। यह ग्रन्थ उड़िया लिपि में लिखा गया था। इसे पढ़ने एवं सम्पादित करने में लगभग 6 वर्षों का समय लगा तथा 1899 ईस्वी में इसका प्रथम बार प्रकाशन हुआ। दूसरी बार सन् 1937 में पंजाब विश्वविद्यालय के लाहौर स्थित ओरियन्टल पब्लिकेशन से यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया। जिसके सम्पादक गौरीशंकर शर्मा थे। इस प्रकार बीसवीं सदी में यह महाकाव्य अस्तित्व आया । इसका अन्य संस्करण उपलब्ध नहीं होता ।

शिवस्वामी उल्लेखनीय महाकवि रहे हैं । इन्होंने संस्कृत के प्रभूत साहित्य की रचना की थी जिसका उल्लेख 'कविकण्ठाभरण' में निम्न प्रकार किया गया
है–

" वाक्यानि द्विपदीयुतान्यथ महाकाव्यानि सप्तक्रमात्
त्र्यक्षप्रत्यहनिर्मितिस्तुतिकथा लक्षाणि चैकादश ।
कृत्वा नाटक- नाटिका–प्रकरण- प्रायान् प्रबन्धान् बहून्
विश्रामत्यधुनापि नातिशयिता वाणी शिवस्वामिन: । । " 1

'कप्फिणाभ्युदय' महाकाव्य का कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है दक्षिण देश के राजा कप्फिण का श्रावस्ति नरेश प्रसेनजित से युद्ध होता है । प्रसेनजित युद्ध में परास्त होता है किन्तु भगवान् बुद्ध के ध्यान द्वारा आशीर्वाद एवं दैवी शक्ति को प्राप्त कर प्रसेनजित पुन: कपिकण से युद्ध करता है तथा उसे पराजित कर देता है । प्रसेनजित के प्रभावस्वरूप कप्फिण बुद्ध का अनुयायी बन जाता है तथा बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेता है।

इस महाकाव्य का कथानक संक्षिप्त रूप में 'अवदान शतक' अंगुत्तरनिकाय टीका, मनोरथपूर्णी तथा धर्मपद की टीका में उपलब्ध होता है । कवि ने इसके कथानक में किञ्चित परिवर्तन, परिवर्धन किये है जो महाकाव्य सर्जन के संदर्भ में कवि की मौलिक सूझबूझ को उपलक्षित करते है।

'कप्फिणाभ्युदय' महाकाव्य में अंगीरस शान्त है अत: इसका महत्व इस दृष्टि से मूल्यांकित किया जाता है क्योंकि उपलब्ध संस्कृत महाकाव्यों में यह एकमात्र ऐसा महाकाव्य है जो शान्तरसप्रधान रचना के रूप में प्राप्त होता है । तत्कालीन धार्मिक विचारधाराओं को स्पष्ट करने में इस महाकाव्य की उल्लेखनीय भूमिका रही है जैसा कि डॉ. केशवराव मुसलगॉवकर ने लिखा है–

"बौद्ध परम्परा के अनुसार राजा कप्फिण को बुद्ध के द्वादश शिष्यमंडल में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । इस प्राचीन कथा को महाकाव्य के रूप में परिणत करते समय कवि स्वकालीन धार्मिक विचारधारा के प्रवाह को संक्रान्त करने में पूर्ण सफल हुआ है। यद्यपि कवि ने काव्य की प्रशस्ति में बौद्धाचार्य चन्द्रमित्र को काव्यरचना का प्रेरक हेतु स्वीकार किया है, फिर भी हिन्दू संस्कृति के महत्वपूर्ण (आश्रम) गृहस्थाश्रम को ही काव्य में उच्च स्थान देकर तत्कालीन, वैष्णव तथा शैव धर्म में अन्तर्भूत बौद्ध धर्म की स्थिति को सूचित कर दिया है। "1

शिवस्वामी के 'कफ्फिणाभ्युदय' में वर्णनकला का सौन्दर्य माघ एवं रत्नाकर से तुलनीय प्रतीत होता है। कुछ अंशों में भारवि का अनुसरण भी दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद गुण एवं वैदर्भी रीति को अपनाकर कवि ने सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा को आगे बढ़ाया है, किन्तु इसकी भाषा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव विद्यमान है। इस संदर्भ में डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी लिखते है–

" भाषा शैली की दृष्टि से 'कफ्फिणाभ्युदय' महाकाव्य की एक स्पृहणीय विशेषता बौद्धधर्म से सम्बद्ध पदावली का सहज रूप से ग्रहण किया जाना है । विशेष रूप से बीसवें सर्ग में अवदानशतक की शब्दावली का कवि ने प्रचुर मात्रा में ग्रहण किया है। हेतुमाला, छिन्नप्लोतिक, नडागार, शास्तुः शासने, पारिपूरिः, षाडायतन्यम्, पौनर्भविष्यति आदि शब्द अवदानशतक की पारिभाषिक शब्दावली से ग्रहण किये गये हैं।''।

भट्ट भीम और उनका 'रावणार्जुनीयम्' महाकाव्य

भट्ट भीम जिनका की अन्य नाम भूम, भूमक तथा भौमक भी प्राप्त होता है द्वारा रचित 'रावणाजुनीयम्' महाकाव्य सन् 1930 में पण्डित शिवदत्त शास्त्री ने जैसलमेर पोथीखाने से पाण्डुलिपि रूप में प्राप्त किया। यह पाण्डुलिपि अत्यन्त जीर्ण– शीर्ण तथा खण्डित पाठ युक्त थी। इस रूप में इसका सम्पादन कर के.सी. चटर्जी आदि विद्वानों के अवलोकन पूर्वक इसे निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई से प्रकाशित किया गया, किन्तु वर्तमान में भी यह महाकाव्य पूर्णरूप में सम्पादित नहीं हो सका है। इस महाकाव्य के रचयिता भट्ट भीम को कतिपय विद्वान् वल्लभी का निवासी मानते हैं तथा कुछ विद्वान् काश्मीर में बारामूला के पास 'उडु' नामक गाँव का निवासी स्वीकार करते हैं। 2

इस प्रकार भट्ट भीम को काश्मीरी कवि परम्परा में स्वीकार कर उनकी कृति को महाकाव्य परम्परा में स्थान देना यहाँ अनुचित नहीं होगा । 'रावणार्जुनीयम्' के रचयिता, भट्ट भीम के स्थिति – काल का निर्धारण बाह्य एवं अन्तः साक्ष्य के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सका है किन्तु इसकी पाण्डुलिपि ग्यारहवीं शताब्दी की है । इस आधार पर विद्वानों ने इसको अनुमान के आधार पर सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर दसवीं शताब्दी के मध्य की रचना माना है ।

भट्ट भीम द्वारा रचित 'रावणार्जुनीय' महाकाव्य शास्त्र काव्यधारा का महाकाव्य है, जो भट्टि – विरचित रावणवध महाकाव्य को आदर्श मानकर सृजित किया गया है । सत्ताईस सर्गों के इस महाकाव्य में कार्तवीर्य अर्जुन एवं रावण के युद्ध की घटना को केन्द्रित कर कथानक की सृष्टि की गई है। इस महाकाव्य में अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम से उदाहरणों की प्रस्तुति करते हुये कथानक को गति प्रदान की गई है।

व्याकरणशास्त्र के प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए यह महाकाव्य अत्यन्त उपादेय है किन्तु कई सर्गो के श्लोक लुप्त एवं खण्डित होने के कारण शास्त्र ज्ञान के उद्देश्य की पूर्ति में बाधा निश्चित रूप से विद्यमान है । कवि ने इस महाकाव्य का कथानक वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड में सर्ग इकतीस से तैंतीस तक प्राप्त 'रावणार्जुनीय' युद्ध के प्रसंग के आधार पर निर्धारित किया है।

कवि ने महाकाव्य के सभी लक्षणों को उपस्थापित करने में दण्डी के निर्देशों का अनुसरण किया है। इस महाकाव्य पर 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'किरातार्जुनीय' आदि अन्य महाकाव्यों का प्रभाव भी दिखाई देता है । भट्टिकाव्य से 'रावणार्जुनीयम्' की तुलना करते हुये डॉ. केशव राव ने लिखा है–

" भाषा शैली की दृष्टि से रावणार्जुनीय महाकाव्य भट्टिकाव्य की अपेक्षा अधिक सुबोध और सरल है । व्याकरण शास्त्र की शिक्षा देना इस काव्य का क्षेत्र होने पर भी उसकी रुक्षता दूर करने के लिये विभिन्न छन्दों एवं अलंकारों का प्रयोग किया गया है। प्रधान रूप से लोकोक्तियों का प्रयोग सर्वत्र किया गया है, जिसमें शास्त्रीय शैली एवं पौराणिक शैली के तत्व भी मिलते हैं । ' पौराणिक शैली' की प्रधान विशेषता का अलौकिक वर्णन स्थान–स्थान पर किया गया है । युद्धवर्णन में इस अलौकिकता का बाहुल्य है । शास्त्रीय शैली की विशेषता वस्तुवर्णन में कह दी गई है ।'' "

महाकवि पद्मगुप्त परिमल एवं उनका नवसाहसाङ्कचरित महाकाव्य

महाकवि पद्मगुप्त परिमल द्वारा सृजित 'नवसाहसांकचरित' महाकाव्य संस्कृत के प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य के रूप में उपलब्ध होता है । यद्यपि कतिपय विद्वान् वाक्पतिराज द्वारां सृजित गौडवहो नामक महाकाव्य को संस्कृत का प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य मानते हैं, किन्तु इसको यह श्रेय इसलिये नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह महाकाव्य संस्कृत में न लिखा जाकर प्राकृत में लिखा गया है। इसके विपरीत 'नवसाहसाङ्कचरित' शुद्ध रूप से संस्कृत भाषा में सृजित है।

इस उल्लेखनीय ऐतिहासिक महाकाव्य के प्रणेता पद्मगुप्त परिमल धारा- नरेश मुञ्ज के सभा पण्डित थे । ये मुञ्ज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज के समय तक राज्याश्रित कवि के रूप में प्रतिष्ठित रहे, जिसकी पुष्टि 'नवसाहसाङ्कचरित' के निम्नांकित पद्य से भी होती है-

"दिवं यियासुर्मयि वाचि मुद्राम्,
अदत्त यो वाक्पतिराजदेवः ।
तस्यानुजन्मा कविबान्धवस्य,
भिनत्ति ताम् सम्प्रति सिन्धुराजः । । " 1

यद्यपि पद्मगुप्त परिमल का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता किन्तु अन्तः साक्ष्य के आधार पर एक जानकारी उपलब्ध यह होती है, कि ये मृङ्गाकदत्त नामक किसी विद्वान् के पुत्र थे । इनका मूल नाम पद्मगुप्त था, किन्तु अन्य नाम 'परिमल' से भी इन्हें जाना जाता था । जैसा कि 'नवसाहसाङ्कचरित' के प्रत्येक सर्गों की अन्तिम पुष्पिका में उल्लिखित निम्नांकित पंक्ति से लक्षित होता है–

श्रीमृङ्गाकदत्तसूनो परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य । "2

तञ्जौर के प्राचीन पुस्तकालय में प्राप्त एक प्रतिलिपि में पद्मगुप्त परिमल ने अपनी कालिदास नामक उपाधि का भी उल्लेख किया है। उन्होंने कालिदास के कवित्व से अपने कवित्व की तुलना भी नवसाहसाङ्कचरित के निम्नांकित पद्य में की है–

"प्रसादहृद्यालङ्कारैस्तेन मूर्तिरभूषयत् ।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव । । ""

'नवसाहसाङ्कचरित' के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः महाकवि पद्मगुप्त ने अपने आश्रयदाता वाक्पतिराज (मुञ्ज) तथा सिन्धुराज की कीर्ति को अमर बनाने के उद्देश्य से इस काव्य की रचना की थी। डॉ. जितेन्द्र चन्द्र भारतीय ने पद्मगुप्त को काश्मीरी महाकवि मानने का मत व्यक्त किया है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकी है। यह मत निम्न प्रकार है-

"हाटकेश्वर के वर्णन से यह कहा जा सकता है कि कवि अवश्य ही काश्मीर के सौन्दर्य से परिचित था । नाम भी उसका काश्मीरी परम्परा सा है । उस पर काश्मीरी शैवसिद्धान्त की छाप भी अवश्य पड़ी है। यह भी अवश्य है, कि वह शैव भक्त था। काव्य के प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त में शिवस्तुतियों की योजना की गयी है । अतः यदि यह मान लिया जाय कि वह काश्मीरी था तो अनुचित नहीं होगा । "2

पद्मगुप्त परिमल द्वारा रचित नवसाहसाङ्कचरित वैदर्भी रीति में लिखा गया महाकाव्य है। 'नवसाहसाङ्कचरित' के वर्णनों में कवि ने वैदर्भी रीति के प्रवर्तक महाकवि कालिदास के प्रति तो अपनी श्रद्धा व्यक्त की ही है, उसके साथ ही काश्मीरी कवि भर्तृमेण्ठ के विषय में भी पर्याप्त सम्मान का भाव प्रदर्शित किया है। इस महाकाव्य की मुख्य विशेषता यह है, कि ऐतिहासिक विषय का महाकाव्य होकर भी इसका अङ्गीरस शृंगार है तथा वीर रस उसके सहायक रूप में वर्णित हुआ है । 18

सर्गों के इस महाकाव्य में सिन्धुराज के पराक्रम एवं राजकुमारी शशिप्रभा से सिन्धुराज के विवाह का प्रख्यात कथानक नियोजित हुआ है। इस महाकाव्य के 12वें सर्ग में परमार वंश की वंशावली वर्णित हुई है। इस महाकाव्य में वर्णित घटनाएँ तथा राजाओं का वंशक्रम भी शिलालेखीय प्रमाणों के आधार पर पूर्णतया प्रमाणिक होने के कारण ऐतिहासिक सत्य की प्रस्तुति करता है ।

संस्कृत सृजन धर्मिता के इतिहास में 'नवसाहसाङ्कचरित' की महती प्रतिष्ठा रही है। अतः क्षेमेन्द्र के 'औचित्यविचारचर्चा' वर्धमान के गुणरत्नमहोदधि, मम्मट के 'काव्यप्रकाश' एवं भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अनेक उदाहरण इस महाकाव्य से लिये गये है ।

महाकवि अभिनन्द और उनका 'रामचरित' महाकाव्य

काश्मीरी महाकवि परम्परा में प्रसिद्ध महाकवि अभिनन्द द्वारा रचित 'रामचरित' महाकाव्य का भी संस्कृत महाकाव्य परम्परा में उल्लेखनीय स्थान रहा है। इस महाकाव्य का प्रथम प्रकाशन सन् 1930 में गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बडौदा से हुआ । महाकवि अभिनन्द ने अपने आप को शतानन्द, अभिनन्दन तथा आर्याविलास के नाम से भी उपलक्षित किया है। उदाहरण के लिये उनके रामचरित महाकाव्य का निम्नांकित पद्य उनके शतानन्द नाम का संकेत करता है-

" तथा तूर्णं कवेः कस्य निर्गतं जीवितो यशः ।
हरवर्णप्रसादेन शतानन्देर्यथाऽधुना ।

अन्त: साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाकवि अभिनन्द बंगाल के पालवंशीय नरेश हारवर्ष के राज्याश्रित थे जिसका नाम प्राचीन भारत के इतिहास में देवपाल के नाम से प्राप्त होता है। काश्मीरी महाकवि परम्परा में इनके पूर्वज शक्तिस्वामी जो इनसे लगभग तीन पीढ़ी पूर्व उत्पन्न हुये थे तथा काश्मीर के राजा मुक्तापीड ने उनको सम्मानित किया था। काश्मीर से इनके पूर्वजों का बंगाल में गमन एवं निवास किस प्रकार हुआ, यह तथ्य उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व पूर्णरूपेण ज्ञात नहीं हो सका है।

'रामचरित' महाकाव्य छत्तीस सर्गो में लिखा गया है । वैदर्भी रीति में सृजित यह महाकाव्य कालिदास की सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा को पल्लवित करने में उल्लेखनीय रहा है। रामकथा इस महाकाव्य के कथानक का केन्द्रबिन्दु है । इसमें मुख्य रूप से वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धा काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक की घटनाओं का चित्रण प्रस्तुत हुआ है। इस महाकाव्य की प्रसिद्धि के कारण ही जल्हण ने अपनी 'सूक्ति मुक्तावली' में तथा सोड्ढ़ल ने अपने उदयसुन्दरीचम्पू नामक ग्रन्थ में अभिनन्द का नामोल्लेख किया है।

महाकवि सिंहनन्दी और उनका ' वराङ्गचरित' महाकाव्य

जैन महाकाव्य परम्परा में वराङ्गचरित नामक महाकाव्य उल्लेखनीय रहा है। संस्कृत महाकाव्य के रूप में उपनिबद्ध होने से संस्कृत महाकाव्य परम्परा में इसका महत्व स्वीकार्य प्रतीत होता है। इस महाकाव्य का नामोल्लेख 'हरिवंशपुराण' में निम्न प्रकार प्राप्त होता है–

वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक् ।
कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुरागं स्वगोचरम् ।। 1

हरिवंश पुराण के उपर्युक्त उल्लेख में वरांग के चरित्र की प्रशंसा की गई है। अत: इसे वराङ्गचरित काव्य के लिये प्रयुक्त किया गया हो, ऐसा प्रमाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि सम्भवत: इससे प्रेरणा प्राप्त कर सिंहनन्दी ने ' वराङ्गचरित' नामक महाकाव्य लिखा हो ।

प्राकृत ग्रन्थ कुवलयमाला के एक पद्य में वराङ्गचरित एवं पद्मचरित महाकाव्यों के रचयिता जटिय तथा रविसेन की प्रशंसा की गई है । यह पद्य निम्न
प्रकार है–

जेहिं कए रमणिज्जे वरंग – पउमाण चरियवित्थारे ।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय रविसेणो ।।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह संदिग्ध हो जाता है, कि ' वराङ्गचरित' महाकाव्य का रचनाकार सिंहनन्दी है या जटिय नामक कोई अन्य व्यक्ति । डॉ. ए. एन. उपाध्याय ने सन् 1938 में माणिक्य चन्द्र जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत चालीसवें ग्रन्थ के रूप में इसका प्रथम प्रकाशन मुम्बई से किया था। इस संस्करण में उपाध्याय महोदय ने जटिय तथा सिंहनन्दी दोनों को एक ही व्यक्ति स्वीकार किया है तथा इस विषय में उन्होंने जैन आदि पुराण का एक प्रमाण उद्धृत किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस महाकाव्य के रचयिता सिंहनन्दी ही अपने समय में जटिय या जटाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे ।

आदिपुराण का यह पद्य निम्न प्रकार है–

काव्यानुचिन्तने यस्य जटा: प्रचलवृतय: ।
अर्थात् स्मानुवदन्तीव जटाचार्य: स नोऽवतात् ।।2

'वराङ्गचरित' महाकाव्य में जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्ण के समकालीन वराङ्ग नामक व्यक्ति का जीवनचरित्र वर्णित किया गया है। इकतीस सर्गों के इस महाकाव्य में कवि का लक्ष्य वरांग के चरित्र के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत करना रहा है। इसके कारण कथानक में कहीं– कहीं विशृंखलता सी आ गई है, तथापि धार्मिक दृष्टि से इस काव्य का रस– प्रकर्ष आदि से अन्त तक विद्यमान रहा है । है

इस महाकाव्य के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुये डॉ. बलदेव उपाध्याय ने लिखा है–

"जटासिंहनन्दी ने अश्वघोष को अपना आदर्श मानकर सरस काव्य के माध्यम से कठोर दार्शनिक तत्वों को पाठकों के हृदय में उतारने का श्लाघनीय उद्योग किया तथा इसमें उन्हें सफलता मिली । काव्य की शैली स्निग्ध न होकर रुक्ष है । प्रसाद गुण के प्राचुर्य के कारण

काव्य में आकर्षण है। नगर, ऋतु, उत्सव, रति, विप्रलम्भ, विवाह, राज्याभिषेक आदि विषयों का वर्णन महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा के सर्वथा अनुरूप है।

महाकवि वीरनन्दी और उनका 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य

महाकवि वीरनन्दी द्वारा विरचित चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला के अन्तर्गत सन् 1912 में प्रकाशित हुआ । इस प्रकाशित काव्य की अन्तिम प्रशस्ति से यह पता चलता है कि महाकवि वीरनन्दी तत्कालीन जैन आचार्य अभयनन्दी के शिष्य थे । इस महाकाव्य में न तो कवि के स्थितिकाल का उल्लेख है और न ही इसमें रचनाकाल का उल्लेख किया गया है। जैन महाकवि वादिराज द्वारा रचित 'पार्श्वनाथचरित' महाकाव्य में इसका उल्लेख होने के कारण इस महाकाव्य को वादिराज से पूर्ववर्ती रचना के रूप में जाना जा सकता है । यह उल्लेख निम्न प्रकार है–

चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम् ।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः । । 2

जैन साहित्यशास्त्र के इतिहासकारों ने वादिराज का समय 1025 ईस्वी निर्धारित कर रखा है तथा इस आधर पर श्री नेमिचन्द शास्त्री ने 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य का रचनाकाल 10वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निर्धारित किया है । अठारह सर्गो के इस महाकाव्य में जैन धर्म के आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के चरित्र का वर्णन किया गया है। डॉ. बलदेव उपाध्याय ने इस काव्य के वैशिष्ट्य को निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है–

"कवि कालिदास के मार्ग का विशेष रुपेण अनुयायी है। छोटे-छोटे असमस्त पदों में अन्तः प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति दोनों का चित्रण बड़ी रोचकता के साथ किया गया है। महाकाव्य के समस्त लक्षणों से संयुक्त होने वाला यह चरितकाव्य अपने विषय का आदिम काव्य माना गया है। प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों को देखने की तथा उन्हें अनुरूप आलंकारिक भाषा में वर्णन की प्रभूत क्षमता कवि को ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित करने में पूर्णतः समर्थ है। '' 1

महाकवि असङ्ग और उनके महाकाव्य

दशवीं सदी के जैन महाकवि असङ्ग ने दो महाकाव्यों का प्रणयन किया था । इनमें से एक 'शान्तिनाथचरित' के नाम से तथा दूसरा 'वर्धमानचरित' के नाम से प्रसिद्ध रहा है। 'शान्तिनाथचरित' में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का तथा 'वर्धमानचरित' में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी का जीवनचरित्र वर्णित हुआ है।

कवि असंग ने अपने पिता का नाम पटुमति तथा माता का नाम नैर्ऋति तथा अपने गुरु का नाम नागनन्दि लिखा है । 'वर्धमानचरित' के प्रशस्ति में शक सम्वत 910 का उल्लेख है । इस आधार पर इनका स्थिति काल एवं रचना काल दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाता रहा है। ये दोनों महाकाव्य भी 'काव्यमाला' से ही प्रकाशित हुए थे। इनका कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है।

महाकवि महासेन और उनका 'प्रद्युम्नचरित' महाकाव्य

महाकवि महासेन गुजरात की जैन आचार्य परम्परा में लाट – वर्गट संघ के आचार्य थे। राजस्थान में इसका आगमन प्रायः होता रहता था । इन्होंने 'प्रद्युम्नचरित' में प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका के अन्त में जो परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि ये सिन्धुराज के मंत्री पर्पट के गुरु थे । सिन्धुराज द्वारा इनको सम्मानित किया गया था । 'नवसाहसाङ्कचरित' के उल्लेखों के अनुसार सिन्धुराज दसवीं शताब्दी में मालवा के शासक थे, अतः अनुमानिक आधार पर यह माना जा सकता है कि महाकवि महासेन ने 'प्रद्युम्नचरित' की रचना लगभग 990 ईस्वी में की थी ।

डॉ. बलदेव उपाध्याय ने महाकवि पद्मगुप्त परिमल तथा महासेन को समकालीन मानते हुये इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि 'प्रद्युम्नचरित' की रचना वादिराज के पार्श्वनाथचरित से लगभग 50 वर्ष पूर्व हो चुकी थी । '

महासेन द्वारा सृजित 'प्रद्युम्नचरित' महाकाव्य श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के चरित्र का 14 सर्गो में वर्णन प्रस्तुत करता है । इस महााकव्य का कथानक कवि ने 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध तथा विष्णुपुराण के पञ्चम अध्याय से लिया है। कथानक के अन्य सूत्र जैन हरिवंशपुराण एवं उत्तरपुराण रहे हैं, जिनमें प्रद्युम्न के चरित्र की कथा को जैन परम्परा के अनुकूल प्रस्तुत किया गया है

इस महाकाव्य में प्रद्युम्न द्वारा अपनी माँ रुक्मिणी के परामर्श से अपने चाचा अरिष्टनेमि के शिष्यत्व में जैन धर्म की शिक्षा ग्रहण करने का भी वर्णन हुआ है। इससे यह निश्चित होता है, कि कवि का लक्ष्य जैन धर्म के प्रभाव को दर्शाना है । यद्यपि प्रद्युम्न के व्यक्तित्व

का चित्रण भागवत परम्परा के अनुकूल किया गया है। यह महाकाव्य महाकवि कालिदास द्वारा प्रवर्तित सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा का ग्रन्थ है, जिसमें शास्त्रीय पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं के बराबर है।

महाकवि वादिराज और उनका 'पार्श्वनाथचरित'

महाकवि 'वादिराज' ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में होने वाले जैन आचार्यों में पर्याप्त उल्लेखनीय रहे हैं। ये महाकवि होने के साथ-साथ जैन धर्म, दर्शन, न्याय, तर्कशास्त्र आदि विषयों के अद्वितीय विद्वान् थे । दार्शनिक वैदुष्य के कारण इनको षट्तर्कषण्मुख, स्यादवादविद्यापति आदि उपाधियाँ प्राप्त हुई थी । इन्होंने दो महाकाव्य लिखे थे- 'यशोधराचरित' तथा 'पार्श्वनाथचरित' । इनमें से 'यशोधराचरित' महाकाव्य प्राप्त नहीं होता, दूसरे 'पार्श्वनाथचरित' महाकाव्य का प्रकाशन माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से विक्रम संवत् 1973 में हुआ । अपने कवित्व तथा शब्द - शास्त्रीय एवं तर्क- शास्त्रीय ज्ञान के सन्दर्भ में उन्होंने एकीभावस्तोत्र में निम्नांकित गर्वोक्ति प्रस्तुत की है-

'वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंह: ।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहाय : । । ।

वादिराज द्वारा सृजित 'पार्श्वनाथचरित' महाकाव्य का कथानक जैन उत्तरपुराण से लिया गया है । कवि ने बारह सर्गों में पार्श्वनाथ के चरित्र को उपनिबद्ध किया है। बाह्य प्रकृति के रमणीय चित्रण एवं रसप्रयोग की सिद्धहस्तता के सन्दर्भ में यह महाकाव्य आज भी अपने आप में विशिष्ट माना जाता है ।

महाकवि लक्ष्मीधर तथा उनका 'चक्रपाणिविजय' महाकाव्य

संस्कृत महाकाव्य परम्परा में 'चक्रपाणिविजय' एकमात्र ऐसा महाकाव्य प्राप्त होता है जिसमें महाकवि लक्ष्मीधर ने सर्वप्रथम अपना परिचय प्रस्तुत किया है। इस परिचय से यह जानकारी प्राप्त होती है कि लक्ष्मीधर के पूर्वज तत्कालीन गौडदेश में कौशल नामक गाँव के निवासी थे। इन्होंने अपने पूर्वजों में नरवाहनभट्ट नामक विद्वान् का उल्लेख किया है। जो अपने समय में सर्वाधिक विख्यात थे। 'नरवाहनभट्ट' के पुत्र अजित हुये । अजित के पुत्र वैकुण्ठ तथा वैकुण्ठ के पुत्र लक्ष्मीधर थे । इस प्रकार अपनी वंशपरम्परा का उल्लेख करने के पश्चात् अपनी महाकाव्य-रचना के संदर्भ में उन्होंने यह भी लिखा है कि राजा भोज की राजसभा में उनके कवित्व की उपेक्षा की गई थी । तथा इस उपेक्षा से क्षुब्ध होकर ही उन्होंने इस महाकाव्य की रचना की थी।

इस प्रकार इस उल्लेख से लक्ष्मीधर का धारानरेश भोज के समकालीन होना सिद्ध होता है । महाकवि के अतिरिक्त श्रेष्ठ सुभाषितकार के रूप में भी लक्ष्मीधर की प्रसिद्धि उल्लेखनीय रही है। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने संस्कृत साहित्य के अभिनव इतिहास में लक्ष्मीधर के एक सुभाषित पद्य को उद्धृत किया है, जो न तो उनके महाकाव्य का अंश है, न ही अन्य सुभाषित ग्रन्थों में प्राप्त होता है ।

महाकवि लक्ष्मीधर द्वारा विरचित चक्रपाणिविजय बीस सर्गों का महाकाव्य है जिसमें उषा एवं अनिरुद्ध के प्रणय एवं विवाह की कथा उपनिबद्ध की गयी है । श्रीकृष्ण की सेना का बाणासुर के साथ युद्ध का प्रभावशाली वर्णन हुआ है किन्तु वीर रस यहाँ अङ्गीरस श्रृंगार की ही प्रकारान्तर से पुष्टि करता है । 'चक्रपाणिविजय' महाकाव्य भी वैदर्भी रीति की रचना है। भाषा की प्राञ्जलता एवं प्रतिपाद्य की समरसता के कारण तात्कालिक युग में महाकाव्य के नूतन प्रतिमान के रूप में इसका महत्व मूल्यांकित किया जाता रहा है। शास्त्रीय उपमाओं तथा सूक्ति-प्रयोगों की प्रचुरता भी इस महाकाव्य की अन्यतम विशेषता रही है।

लोलिम्बराज और उनका हरविलास महाकाव्य

संस्कृत महाकाव्य परम्परा में 'हरिविलास' नामक महाकाव्य के प्रणेता लोलिम्बराज भी उल्लेखनीय महाकवि रहे है। इन्हें प्राय: भोजकालीन माना जाता

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर ये दक्षिण देश के राजा हरिहर की राजसभा के राज्याश्रित कवि थे। इन्होंने अपने पिता का नाम दिवाकर लिखा है । ये मूल रूप में आयुर्वेद के विद्वान् थे । इनकी आयुर्वेद सम्बन्धी रचनाएँ भी प्राप्त होती है । प्रचलित जनश्रुति के अनुसार इन्होंने सप्तश्रृंग पर्वत पर देवी की आराधना की थी तथा देवी ने इन्हें प्रसन्न होकर घटिकाशतक होने का वर प्रदान किया था ।

'हरविलास' महाकाव्य श्रीकृष्ण की बाललीलाओं के चित्रण को प्रस्तुत करता है। गोपियों के साथ रास लीला का वर्णन भी इस महाकाव्य में हुआ है। प्रसङ्गवश गोवर्धन पूजा, कंसवध, उद्धव संदेश, सुदामा-प्रसंग, कृष्ण के द्वारका-गमन आदि विषय इसके प्रतिपाद्य में समाहित हुये हैं। यह महाकाव्य केवल पाँच सर्गों की रचना होने के कारण पर्याप्त आलोचना का पात्र रहा है, फिर भी

साहित्यिक दृष्टि से अभिव्यक्ति की सरसता, भाषा की प्राञ्जलता, भावों की मनोरम प्रस्तुति, माधुर्य एवं सौकुमार्य का सन्निवेश, अलंकारों की स्वभाविकता, आभिजात्य एवं औदात्य के साथ कथानक की परिपूर्णता इस रचना को निश्चित रूप से सफल महाकाव्य के रूप में प्रमाणित करती है ।

महाकाव्य के अनुकूल ही इसमें प्रख्यात इतिवृत्त का अवलम्बन लिया गया है । इसके कथानक का मूल आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध है । भागवत के प्रति श्रद्धातिशय रखने वाले महाकवि लोलिम्बराज का मुख्य उद्देश्य कृष्ण की लीला - माधुरी का सरस अनुभव कराना तथा भागवत चेतना की अभिव्यक्ति कराना रहा है।

महाकवि बिल्हण और उनका 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्य

" संस्कृत महाकाव्यों में 'विक्रमाङ्कदेवचरित' विशुद्ध रूप में ऐतिहासिक कोटि का महाकाव्य है जो रघुवंश के अनुकरण पर लिखा गया वीर रस का श्रेष्ठ महाकाव्य स्वीकार किया जाता है। इस महाकाव्य के रचयिता महाकवि बिल्हण ने अपना परिचय इस महाकाव्य के अन्तिम 18वें सर्ग में विस्तारपूर्वक लिखा है, तदनुसार कश्मीर के राजा गोपादित्य ने उनके प्रयितामह मुक्तिकलश को मध्यप्रदेश से आकर कश्मीर में रहने के लिए आमन्त्रित किया था। बिल्हण के पितामह का नाम राजकलश था और पिता का ज्येष्ठकलश । ज्येष्ठकलश के तीन पुत्र हुए, जिनमें बिल्हण मँझले थे।''

अपने परिचय की इसी परम्परा में बिल्हण ने यह भी उल्लेख किया है कि वे काश्मीर में प्रवरपुर के पास 'खोनमुख' नामक गाँव के निवासी थे । इन्होंने अपने आपको चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ की सभा का पण्डित बतलाया है। इससे इनका दक्षिण देश में गमन सिद्ध होता है । कल्हण की राजतरंगिणी के उल्लेखों के अनुसार काश्मीर नरेश हर्ष के शासनकाल में बिल्हण अपनी बाल्यावस्था को पूर्ण कर युवावस्था में अपने वैदुष्य का प्रसार कर रहे थे किन्तु राज्याश्रय - प्राप्ति के अभाव में कलश के राजा बनने के पश्चात् बिल्हण ने काश्मीर छोड़ दिया। इसके पश्चात् कुछ दिनों में गुजरात - नरेश कर्ण के राज्याश्रय में रहे तथा उसके पश्चात् दक्षिण के कल्याण नगर में विक्रमादित्य षष्ठ का राज्याश्रय प्राप्त किया ।

काश्मीर के इतिहास के अनुसार कलश का राज्यकाल 11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा है। इसी प्रकार प्राचीन भारत के इतिहास में विक्रमादित्य षष्ठ का राज्यपाल 1076 ईस्वी से 1127 ईस्वी प्राप्त होता है । इस आधार पर बिल्हण को 11वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का महाकवि माना जाता है। महाकवि बिल्हण - विरचित विक्रमाङ्कदेवचरित का प्रथम प्रकाशन डॉ. ब्यूलर ने बोम्बे संस्कृत सीरीज से सन् 1945 ईस्वी में तथा डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने सरस्वती भवन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस काव्य को सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित किया । 18 सर्गो का यह महाकाव्य सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा की रचना है। इसमें वैदर्भी रीति का सर्वाधिक आश्रय लिया है तथा रसोत्कर्ष पर कवि ने सर्वाधिक ध्यान दिया है।

कवि ने चालुक्य वंश के प्रख्यात राजाओं के चरित्र को नायकत्व प्रदान कर अपने महाकाव्य का गौरव - संवर्धन किया है। इस महाकाव्य की ऐतिहासिकता का मूल्यांकन करते हुये डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने लिखा है-

" यद्यपि बिल्हण अपने चरित नायक को उदात्त रूप में प्रस्तुत करते हुए उनके दोष प्रच्छादित कर लिये है, पर कल्याणी चालुक्यों के सत्तासंस्थापक राजा तैलप के द्वारा राष्ट्रकूटों का उन्मूलन, मालवनरेश पर आक्रमण, आहवमल्लदेव के द्वारा कल्याणनगर की स्थापना, भोज, कर्ण तथा चोल राजाओं पर उसकी विजय आदि अनेक घटनाएँ जो बिल्हण ने निरूपित की हैं, जो इतिहास से प्रमाणित हैं । ' "

साहित्यशास्त्र की दृष्टि से 'विक्रमाङ्कदेवचरित' एक रससिद्ध रचना है । इसका अङ्गीरस वीर है, जिसके चारों भेद - दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर एवं दयावीर को कवि ने इसके वर्णनों में श्रेष्ठतम रूप में व्यक्त किया है। वस्तुवर्णन में बाह्य- प्रकृति का चित्रण पूर्व कवियों की अपेक्षा सर्वातिशायी है । पात्रों में केवल नायक की स्वभावगत विशेषताओं का चित्रण कवि का लक्ष्य रहा है । नायिकाओं की चारित्रिक विशेषताओं के वर्णन में कवि उदासीन प्रतीत होता है।

कवि ने अपने इस महाकाव्य को वैदर्भी रीति से युक्त, वैचित्र्य के रहस्य से गम्भीर तथा माधुर्य एवं प्रसाद के सन्निवेश से युक्त बतलाया है । कालिदास का भावानुकरण सर्वाधिक रूप में हुआ है। स्थान-स्थान पर अनेक शास्त्रों के विषय उपनिबद्ध किये हैं, किन्तु पाण्डित्य - प्रदर्शन का उद्देश्य नहीं दिखाई देता । इस महाकाव्य की एक अन्यतम विशेषता यह है, कि कवि ने इसमें अप्रचलित छन्दों का प्रयोग भी आंशिक रूप में किया है तथा सर्ग के मध्य में भी छन्द-परिवर्तन की प्रवृत्ति को अपनाया गया है ।

महाकवि कल्हण और उनकी 'राजतरंगिणी'

काश्मीरी महाकाव्य परम्परा में कल्हण विरचित 'राजतरंगिणी' का सर्वाधिक महत्व स्वीकार किया जाता रहा है। जबकि संस्कृत आलोचना के विद्वान् 'राजतरंगिणी' को महाकाव्य न मानकर ऐतिहासिक ग्रन्थ ही स्वीकार करते हैं । 'राजतरंगिणी' के रचयिता महाकवि कल्हण सन् 1098 ईस्वी में काश्मीर के 'परिहासपुर' नामक स्थान पर उत्पन्न हुये थे । इनके पिता का नाम 'चम्पकप्रभु' था जो तत्कालीन काश्मीर नरेश के मंत्री थे ।

'राजतरंगिणी' के टीकाकार 'जोनराज' के अनुसार कल्हण ने निरन्तर दो वर्षों तक परिश्रम करके इस महाकाव्य की रचना की । इसकी रचना 1150 ईस्वी में पूर्ण हुई। कल्हण ने अपने इस महाकाव्य में काश्मीर के लगभग 1500 वर्षों का इतिहास उपनिबद्ध किया है तथा इतिहास के साथ–साथ कश्मीर के भूगोल, संस्कृति राजनीति समाज एवं धर्म आदि सभी विषयों को समाहित कर दिया गया है।

इस महाकाव्य में प्रतिपाद्य का विभाजन सर्गो में न किया जाकर तरंगों में किया है। आर्ष महाकाव्य महाभारत की भाँति इस महाकाव्य में एक मात्र अनुष्टुप छन्द का ही सर्वाधिक प्रयोग प्राप्त होता है। इस महाकाव्य की भाषा–शैली एवं वर्णन– कला पर रामायण एवं महाभारत का सर्वाधिक प्रभाव देखा जाता है । कल्हण की राजतरंगिणी भी उपजीव्य महाकाव्य के रूप में महत्व प्राप्त कर चुकी है तथा इसके अनुकरण पर अब तक लगभग आठ–दस अन्य राजतरंगिणी ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, जिनमें जोनराज कृत 'राजतरंगिणी' श्रीवर कृत 'राजतरंगिणी', शुक कृत 'राजतरंगिणी' तथा काशीनाथ मिश्र द्वारा सृजित 'कर्णाट राजतरंगिणी' उल्लेखनीय रचनायें हैं।

महाकवि क्षेमेन्द्र और उनका दशावतारचरित महाकाव्य

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्र के आचार्य होने के साथ– साथ अनेक काव्यों एवं महाकाव्यों के रचयिता भी रहे हैं। उनके द्वारा सृजित 'दशावतारचरित' संस्कृत महाकाव्यों की सहजोन्मेषप्रधान काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य क्षेमेन्द्र की रचनाओं में प्राप्त अन्त: साक्ष्यों से उनके व्यक्तित्व के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

उपलब्ध काश्मीर के इतिहास के आधार पर डॉ. बलदेव उपाध्याय आदि विद्वानों ने क्षेमेन्द्र की स्थिति काश्मीरनरेश अनन्त तथा कलश के शासनकाल में स्वीकार की है। क्षेमेन्द्र ने अपनी सभी रचनाओं में रचनाकाल का निर्देश किया है ।। इनमें 'दशावतारचरित' का रचनाकाल 1066 ईस्वी है तथा यह उनकी अन्तिम रचना रही है। सम्भव है, इसके कुछ समय बाद तक क्षेमेन्द्र जीवित रहे हों। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने अन्त: साक्ष्यों के आधार पर क्षेमेन्द्र का जन्म 990 ईस्वी के लगभग तथा निधन 1066 ईस्वी के लगभग निश्चित किया है। 2

महाकवि क्षेमेन्द्र की उन्नीस रचनाओं में से पाँच रचनायें महाकाव्य के रूप में प्राप्त होती है। इनमें बृहतकथामंजरी, भारत मंजरी तथा रामायण मंजरी मौलिक न होकर क्रमश: बृहतकथा, महाभारत एवं रामायण के संक्षिप्त रूपान्तर मात्र है । इसी प्रकार बोधिसत्वावदानकल्पलता पालिग्रन्थ 'अवदानशतक' का रूपान्तर मात्र है, जबकि 'दशावतारचरित' क्षेमेन्द्र का मौलिक महाकाव्य है। इस महाकाव्य का कथानक पौराणिक है। पुराणों में प्राप्त विष्णु के दश अवतारों का चित्रण प्रस्तुत करना क्षेमेन्द्र का मूल लक्ष्य रहा है। पुराणों के अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, योगवाशिष्ठ, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थों की भी सहायता कवि ने ली है ।

विद्वानों के मतानुसार 'दशावतारचरित' काव्यसौन्दर्य, भारतीय संस्कृति के आदर्शों एवं धार्मिक व दार्शनिक तत्वों की अभिव्यक्ति के कारण उत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। इसमें विषय के अनुरूप वैदर्भी, गौडी एवं पाञ्चाली तीनों रीतियों का प्रयोग हुआ है। अवसरानुकूल रसोत्कर्ष भी इस महाकाव्य की विशेषता है, अत: इसमें किसी एक रस को अंगी रस कहना पर्याप्त कठिन प्रतीत होता है। अनुष्टुप् का प्रयोग बहुलता से हुआ हैं तथा सूक्तियों की योजना भी पदे पदे प्राप्त होती है।

महाकवि हेमचन्द्र और उनका 'कुमारपालचरित' महाकाव्य संस्कृत महाकाव्य परम्परा में जैन कवि हेमचन्द्र द्वारा रचित 'कुमारपालचरित' शास्त्रकाव्यपरम्परा का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसकी रचना महाकवि भट्टि के 'रावणवध' महाकाव्य के अनुकरण पर की गई है। इस महाकाव्य को द्वयाश्रय महाकाव्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमें संस्कृत एवं प्राकृत दो भाषाओं का समान रूप से प्रयोग किया गया है। इस महाकाव्य के रचयिता हेमचन्द्र गुजरात की जैन विद्वत्परम्परा में विख्यात रहे हैं। इनका जन्म 1089 ईस्वी में हुआ। ये पाँच वर्ष की आयु में जैन धर्म में दीक्षित हुये इनके दीक्षा गुरु देवचन्द्र सूरि थे । इन्होंने अह्लिलवाड पट्टन के राजा जयसिंह सिद्धराज का राज्याश्रय प्राप्त किया था उनके पुत्र कुमारपाल के धर्मोपदेशक के रूप में इन्हें जाना जाता है। ये कुमारपाल ही इस द्वयाश्रय महाकाव्य के नायक है।

28 सर्गो के इस महाकाव्य में प्रारम्भ के बीस सर्ग संस्कृत में तथा अन्तिम आठ सर्ग पूर्णतया प्राकृत भाषा में सृजित किये गये है। 14 सर्गों तक चालुक्यवंशीय राजाओं का इतिहास बतलाया है तथा उसके पश्चात् पन्द्रहवें सर्ग से अट्ठाइसवें सर्ग तक कुमारपाल का जीवन चरित उपनिबद्ध किया गया है।

महाकवि हरिचन्द्र एवं उनका 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य

'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य भी जैन महाकाव्यों की परम्परा में परिगणित रहा है तथा संस्कृत महाकाव्य परम्परा में इसका समान रूप से आदर किया जाता है। इस महाकाव्य के रचयिता हरिचन्द्र ने अपना परिचय महाकाव्य के अन्त में लिखी गई प्रशस्ति में प्रस्तुत किया है। तदनुसार हरिचन्द्र का जन्म कायस्थ कुल में हुआ था, इनका वंश 'नोमक' नाम से जाना जाता था, इन्होंने अपने पिता का नाम 'आर्द्रदेव' तथा माता का नाम 'रथ्या देवी' लिखा है। इन्होंने अपने महाकाव्य में किसी अन्य ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार किसी अन्य ग्रन्थ में इनका कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता । इनके निवास स्थान का विषय भी अज्ञात है ।

हरिचन्द्र द्वारा विरचित 'धर्मशर्माभ्युदय' की पाण्डुलिपि जो विक्रम सम्वत् 1287 की है। गुजरात के 'अह्निलवाड' पाटन में स्थित जैन भण्डागार से प्राप्त हुई इसका प्रथम प्रकाशन पण्डित दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने सन् 1933 में काव्यमाला से

किया। दूसरा संस्करण सन् 1952 में गायकवाड ओरियन्टल सीरीज बड़ौदा से हुआ । इसके पश्चात् अन्य कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है।

'धर्मशर्माभ्युदय' में न तो कवि के स्थितिकाल का उल्लेख किया गया है, न ही रचनाकाल का निर्देश किया गया है। विद्वानों ने जैन महाकाव्यों में प्राप्त 'नेमिनिर्वाण' महाकाव्य पर 'धर्मशर्माभ्युदय' का प्रभाव स्वीकार करते हुये इसको 11वीं शताब्दी की रचना माना है। कुछ विद्वान् इसे 12वीं शताब्दी का स्वीकार करते हैं। 2

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित 'धर्मशर्माभ्युदय' विदग्ध श्रेणी का महाकाव्य है। इसमें महासेन के पुत्र रूप में धर्मनाथ तीर्थकर के जन्म, उनके वैराग्य ग्रहण, दीक्षा, विहार एवं कैवल्य प्राप्ति का वर्णन किया गया है। जैन धर्म के उपदेश भी इसमें समाहित हुये है, जो कवि का मूल लक्ष्य प्रतीत होता है । इस महाकाव्य के सन्दर्भ में डॉ. केशवराव की निम्नांकित टिप्पणी चिन्तनीय प्रतीत होती है–

" प्रस्तुत काव्य में यद्यपि रघुवंश के कथाक्रम का अनुसरण किया गया है जैसा कि हम आदान में देखेंगे, तथापि महाकाव्य के लिये अपेक्षित नियमों की पूर्ति करने के प्रयत्न में रधुवंश की तरह प्रबन्ध काव्य की इतिवृत निर्वाहकता का ध्यान नहीं रखा गया है। अप्रासंगिक वर्णनों से 7 या 8 सर्ग के इतिवृत्त को पुष्ट कर 21 सर्गो का कर दिया है।

3 डॉ. बलदेव उपाध्याय के मतानुसार - 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य का कथानक 'जैन उत्तरपुराण' से लिया गया है। आनुषंगिक विषयों, विस्तृत वर्णना के लिये आलोचित यह महाकाव्य शान्त रस प्रधान रचना है । हरिचन्द्र ने अपने काव्य को रस एवं ध्वनि का सार्थवाह बतलाया है । जो वस्तुत: अत्युक्ति न होकर तथ्योक्ति है–

स कर्णपीयूषरसप्रवाहम्,
रसध्वनेरध्वनि सार्थवह: ।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं,
महाकवि: काव्यमिदं क्व्यधत्त ।। '

इस महाकाव्य में वैदर्भी रीति एवं प्रसाद गुण का प्राचुर्य है । कालिदास की शैली एवं भावों का अनुकरण पर्याप्त रूप में विद्यमान है । यद्यपि कुछ विद्वान् इस महाकाव्य पर श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' का प्रभाव प्रतिपादित करते है किन्तु यह मत इस दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता कि 'नैषधीयचरितम्' अलंकृत काव्य शैली का ग्रन्थ रहा है तथा श्रीहर्ष का काल निश्चित रूप से 12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है अत: श्रीहर्ष का ' नैषधीयचरितम्' 'धर्मशर्माभ्युदय' से लगभग सौ वर्ष बाद लिखा गया प्रतीत होता है।

संस्कृत महाकाव्य-परम्परा में महाकवि मंखक का 'श्रीकण्ठचरितम्' महाकाव्य पूर्व निर्दिष्ट संस्कृत महाकाव्य परम्परा से यह लक्षित होता है कि लौकिक संस्कृत महाकाव्यों का सर्जन शताब्दियों तक अनवरत रूप से होता रहा। संस्कृत महाकाव्य सर्जना के इतिहास में अनेक महाकवियों ने महाकाव्यों का सृजन कर अपने यश का विस्तार किया। इससे संस्कृत साहित्य की पर्याप्त श्री वृद्धि भी हुई। इसी दीर्घकालीन परम्परा में 12वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में काश्मीर के उल्लेखनीय महाकवि के रूप में मंखक का अवतरण हुआ ।

मंखक ने 'श्रीकण्ठचरितम्' नामक उल्लेखनीय महाकाव्य की रचना की जो प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का शोध्य विषय है । पच्चीस सर्गों के इस महाकाव्य में मंखक ने शिव द्वारा त्रिपुरासुर के वध की कथा को प्रस्तुत किया है। परम्परागत श्रेणी के प्राचीन महाकाव्यों में 'श्रीकण्ठचरितम्' का महत्व वर्तमान में भी भलिभाँति स्वीकार किया जाता है । यहाँ तक की मंखक के गुरु आचार्य रुय्यक ने भी अपनी रचना 'अलंकार सर्वस्व' में 'श्रीकण्ठचरितम्' का उल्लेख किया है।

रचनात्मक दृष्टि से यह महाकाव्य विदग्ध महाकाव्य के लक्षणों का अनुसरण करता है इसमें वैदर्भी एवं गौडी रीतियों के प्रयोगों में दक्षता विद्यमान है। लालित्य के साथ-साथ पदों में गेयता प्रस्फुटित हुई है । अंगीरस वीर है तथा शास्त्रीय दृष्टि से सभी काव्याङ्गों का समुचित विन्यास इसमें देखने को मिलता है।

सन्दर्भग्रन्था:

1. डॉ. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 110
2. डॉ. केशवराव मुसलगावकर - संस्कृत महाकाव्य परम्परा, पृ. 341
3. द्रष्टव्य प्रतिमानाटक (भास)
4. डॉ. प्रभाकर वाटवे, संस्कृत काव्य के पंचप्राण, पृ. 101
5. अश्वघोष, सौन्दरनन्द, 18 / 63, 64
6. भोलाशंकर व्यास, संस्कृत कवि दर्शन, पृ. 61
7. डॉ. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 174
8. दृष्टव्य- कल्हण - राजतरंगिणी ।
9. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, पृ. 213
10. डॉ. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 215
11. महाकवि भट्टि - भट्टिकाव्य, 22/35
12. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा (पाण्डेय एवं व्यास) पृ. 189
13. डॉ. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 189
14. महाकवि भट्टि, रावणवधम्, 22, 23